पूज्य लालचंदभाई के प्रवचन
स्वपरप्रकाशक प्रश्नोत्तरी, अहमदाबाद
तारीख ०१-०४-१९९० दोपहर, प्रवचन LA २४९

मुमुक्षु: सुबह स्व-परप्रकाशक के ऊपर..

पू. लालचंदभाई: हाँ, यह अच्छा कहा। ठीक याद किया। स्व-परप्रकाशक के विषय में, स्व-परप्रकाशक के नाम पर वास्तव में एक बड़ी भ्रान्ति चलती है। स्व-परप्रकाशक तो अज्ञानी जीव की पर्याय में भी एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय , तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेंद्रिय, संज्ञी, असंज्ञी चारों गति के अज्ञानी प्राणिओं को भी जो ज्ञान की पर्याय प्रगट होती है जिसको ज्ञप्ति कहा जाता है। ज्ञप्ति अर्थात् जानने की क्रिया जिसमें होती है।

राग में जानने की क्रिया नहीं है, इसलिए राग तो अंधा है। स्व-परप्रकाशक उसमें है नहीं। लेकिन अज्ञानी को जो ज्ञान प्रकट होता है, उस ज्ञान की पर्याय में ज्ञप्तिक्रिया में स्व-पर का प्रतिभास होता है। ऐसी स्व-परप्रकाशक क्रिया अज्ञानी को भी प्रकट होती है। इस स्व-परप्रकाशक को कोई सत्यार्थ माने (तो) किसी को अनुभव नहीं होता। स्व-परप्रकाशक प्रमाण ज्ञान का विषय है। इस प्रमाणज्ञान में से उसे निश्चयनय निकालना चाहिए। कि वास्तव में स्व-पर का प्रतिभास होने पर भी मुझे पर जानने में नहीं आता, मेरा शुद्धात्मा ही जानने में आता है। क्योंकि ज्ञान में आत्मा तन्मय होकर जानने में आता है, और देहादि और परपदार्थों का प्रतिभास होता है लेकिन ज्ञान वहाँ जाता भी नहीं, ज्ञेय ज्ञान में आते भी नहीं, और ज्ञेय ज्ञान में जानने में आयें तथापि उन ज्ञेय के साथ ज्ञान तन्मय होता नहीं है।

जिसप्रकार यह (लकड़ी) पदार्थ जानने में आता है, जानने में आता है अवश्य लेकिन ज्ञान इसमें तन्मय नहीं होता। इसलिए वास्तव में ज्ञान उसे जानता नहीं है किन्तु ज्ञान तो आत्मा का होने से आत्मा को जानता है। जो जिसका होता है वह वही होता है। आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है। ऐसा यदि वह ले तो अनंतकाल से जो नहीं प्रकट हुआ ऐसी स्वप्रकाशक ज्ञान की पर्याय प्रकट होती है। उस स्वप्रकाशक लक्षण से आत्मा लक्षित होता है, अनुभव में आता है। इसप्रकार इस शुद्धात्मा का अनुभव होने पर उस निर्विकल्प ध्यान के काल में ही अभी उपयोग बाहर न आया हो । अंदर ही अंदर में सम्यग्दर्शन के काल में, स्वप्रकाशक में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिणाम प्रकट हुये उनका फल आनंद आता है उस ही समय। समय एक ही है। अब, वह ज्ञान ज्ञान को भी जानता है और प्रकट हुए आनंद को भी जानता है। अर्थात् स्वप्रकाशक पूर्वक स्व-परप्रकाशक निश्चय से प्रकट होता है। यह निश्चय है।

अब उसे अंदर ही अंदर में स्व-परप्रकाशक क्यों कहा? पूरा जगत ऐसा मानता है कि आत्मा वह स्व और लोकालोक वह पर, वह स्व-परप्रकाशक। समझ गये? वह अनुभवी का बाहर का (अनुभव के) बाद का व्यवहार है। और अज्ञानी को स्व-परप्रकाशक की ज्ञप्ति है वह तो अज्ञानमय ही

है, उसमें सम्यग्ज्ञान है ही नहीं। उसमें से उसे उस ज्ञान में से ज्ञायक को पकड़ने पर अनुभव होता है। उस ज्ञान की पर्याय को स्वप्रकाशक उपयोग कहने में आता है। पूरा ही उपयोग अंदर में आये, निरवशेषरूप से, कुछ भी बाकी रखे बिना सम्पूर्ण उपयोग अंदर में ढल जाए तब शुद्धोपयोग दशा प्रकट होती है। उसका नाम स्वप्रकाशक है। उस समय आत्मा की अनुभूति होती है, आनंद आता है। तो उस ही समय ज्ञान आत्मा को जानता है अथवा ज्ञान ज्ञान को भी जानता है और प्रकट हुआ जो आनंद वह भी उसके ज्ञान में जानने में आता है।

उस प्रकट हुए आनंद के सन्मुख नहीं है ज्ञान। ज्ञान तो आनंदमूर्ति के सन्मुख है। लेकिन उसमें एक स्व-परप्रकाशक ऐसी शक्ति अंदर प्रकट होती है कि जिसमें आनंद भी जानने में आ जाता है। आनंद को जानता नहीं है ज्ञान, लेकिन आनंद जानने में आ जाता है। उसका अंदर का स्व-परप्रकाशक प्रकट होता है उसे निश्चय कहने में आता है। उसमें पर की अपेक्षा नहीं है, मात्र अपना ही है इसलिए उसे निश्चय। एक द्रव्याश्रित है वह परिणाम। ज्ञान ज्ञान को भी जानता है और उत्पन्न हुए आनंद को भी जानता है, प्रतीति को भी जानता है, स्थिरता को भी जानता है सभी को ज्ञान जानता है।

तो ज्ञान है वह स्व है और बाकी के अनंत गुण अर्थात् पर्यायें वे सभी पर हैं। ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञान वह स्व और आनंद वह पर ऐसा अंदर में स्व-परप्रकाशक अनुभव के काल में निश्चय स्व-परप्रकाशक प्रकट होता है। वह नंबर दो कहा। स्वप्रकाशक पूर्वक स्व-परप्रकाशक निश्चय उसमें पर की अपेक्षा बिलकुल नहीं है। लोकालोक ज्ञात ही नहीं होते। उसे निश्चय स्व-परप्रकाशक कहने में आता है। फिर सविकल्प दशा में साधक आता है तो व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। जो कुछ देहादि, देव, गुरु, शास्त्र, रागादि सब जानने में आते हैं उसके ज्ञान में, तो वह स्व-परप्रकाशक व्यवहार है। लेकिन वह व्यवहार कब कहलाता है कि स्व-परप्रकाशक निश्चय प्रकट हुआ हो तो। और स्व-परप्रकाशक निश्चय कब प्रकट होता है कि स्वप्रकाशक हो तो। ऐसी अंदर की रमत है यह। तीन रमत ज्ञानी को ये तीन भाव लागू पड़ते हैं।

ज्ञानी को ऐसी तीन प्रक्रिया होती हैं। आहाहा! और अज्ञानी को स्व-परप्रकाशक, स्व-पर का प्रतिभास होता है, वह तो अज्ञानमय है, उसमें कहीं आत्मा का अनुभव नहीं है। वह तो उसकी ऐसी स्वच्छता थोड़ी रह गई है कि स्व-पर का प्रतिभास होता है। भगवान भी जानने में आता है और परपदार्थ भी उसमें प्रतिभासित होते हैं, ज्ञात होते हैं। तो ऐसे स्व-परप्रकाशक की कोड़ी की कीमत नहीं है, वह तो अभवि के भी है। बहन! ख्याल आया तुम्हें कुछ? बहन का प्रश्न था स्व-परप्रकाशक का। ऐसे चार प्रकार हैं इसमें। यह सब शास्त्र में है। एक नियमसार में जब केवलज्ञान का अधिकार १५९-१६० गाथा शुरू की, शुद्धोपयोग अधिकार। तुम्हारे चलता है न यहाँ? शुद्धोपयोग अधिकार। नियमसार है? लाओ। नियमसार का शुद्धोपयोग अधिकार उसकी पहली गाथा १५९ है। अर्थात् कि मोक्षमार्ग का फल मोक्ष।

मोक्षमार्ग जब प्रकट होता है उसका फल मोक्ष अर्थात् केवलज्ञान प्रकट होता है। अब केवलज्ञान का स्वरूप क्या है? कि केवली स्व-परप्रकाशक हैं, वे स्व और पर को जानते हैं। ये प्रचलित बातें हैं सभी बहुत। लेकिन उसकी गहराई का रहस्य कोई जानता नहीं है। कोई ही विरला जानता है,

अनुभवी विरला जानता है। इस १५९ गाथा में आचार्य भगवान ऐसा फरमाते हैं, मूल गाथा ऐसी है,

व्यवहार से प्रभु केवली सब जानते अरु देखते;
निश्चय नयात्मक द्वार से, निज आत्मा को प्रभु पेखते।

व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों अपेक्षा से बात करते हैं। उसमें टीका, उसकी शुरुआत करते हुए टीका की पहली लाइन, most important (सब से महत्व) है। **यहाँ, ज्ञानी को** अर्थात् केवली को **स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना** स्व-पर का प्रकाशकपना अर्थात् स्व-परप्रकाशक **कथंचित् कहा है**। सर्वथा नहीं है। लोगों ने सर्वथा मान लिया है। कि आत्मा को जानते हैं केवली और लोकालोक को जानते हैं। वह जो व्यवहार, वह जो व्यवहार उसे सर्वथा मान लिया इसलिए उपयोग अंदर में जाता नहीं है।

वह व्यवहार है। केवली स्व-पर को जानते हैं वह व्यवहार है। ये टीका में है सब, हों! मैं अपने घर की बात नहीं करता हूं। उसे व्यवहार क्यों कहा? कि आत्मा को जाने वह स्व और आत्मा के साथ पर को मिलाया तो प्रमाणज्ञान हो गया। तो उसे स्व-परप्रकाशक व्यवहार कहा, इस टीका में। अंदर के स्व-परप्रकाशक में पर को मिलाया ही नहीं। अतः निश्चय हो गया। ज्ञान स्व और आनंद पर, वह आनंद आत्मा ही है। आनंद कोई पर नहीं है। पर तो उसे अपेक्षा से कहा है।

ज्ञान को जब स्व कहते हैं तो ज्ञान की अपेक्षा से आनंद आदि श्रद्धा को पर कहने में आता है। लेकिन स्वआश्रित है। एक द्रव्याश्रित है स्व-परप्रकाशक। पूर्वकथित स्व-परप्रकाशक दो द्रव्याश्रित हो गया। आहाहा! उसे स्व-परप्रकाशक निश्चय कहा जाता है जिसमें पर की अपेक्षा न आये। ज्ञान ज्ञान को जानता है और आनंद को भी जानता है। अनुभव के काल में अतीन्द्रिय आनंद आता है उसे यदि साधक न जाने तो सम्यग्दर्शन हुआ ऐसा पता ही न चले। मुंबई में कहा एक भाई ने, रोनकवाले हैं बड़े, ७० लाख का बंगला है, जानते होंगे तुम। गुरुदेव वहाँ उतरे थे। रोनकवाला रमणीकभाई ने पूछा, समझ गये? प्रवचन के बीच में, कि सम्यग्दर्शन हुआ उसका प्रूफ (प्रमाण) क्या? कि आनंद आता है अतीन्द्रिय, वह उसका प्रूफ है। उसका लक्षण है, आनंद आता है। क्योंकि एक कषाय टल गई। चार कषायें दूसरी गयी चारित्र की। तो कषाय के अभाव से वीतरागता प्रकट हुई। तो वीतरागता का फल तो आनंद ही आता है न? दुःख होता है कहीं? राग का फल दुःख और वीतरागभाव का फल सुख। तो वह आनंद आता है उसे पता चलता है। बाहर निकलता है न तब प्रतीति में आ गया, भव का अंत आ गया। वह निश्चय से स्व-परप्रकाशक। यह बात समाज में चलती नहीं है बहुत। गुरुदेव कह गये हैं लेकिन चलती नहीं है।

वो वाला स्व-परप्रकाशक चलता है। आहाहा! वही पकड़ लिया। वोराभाई का नाला, कहावत है हमारे यहाँ, समझ गये? लेकिन स्व-परप्रकाशक कथंचित् है, सर्वथा नहीं। कथंचित् एक शब्द most important है। कथंचित् अर्थात् किसी एक अपेक्षा से। निश्चयनय से स्व-परप्रकाशक और व्यवहारनय से भी स्व-परप्रकाशक। ऐसा इसमें है। तीन प्रकार ज्ञानी के होते हैं, एक प्रकार अज्ञानी के (होता है)। सभी को स्व-पर उसमें जानने में आते हैं स्वच्छता में ज्ञान की पर्याय में जानने में आते हैं। भले अज्ञानभाव हो , कुछ नहीं। लेकिन उसमें से भेदज्ञान करना चाहिए। कि जाननहार जानने में आता है,

वास्तव में पर जानने में नहीं आता। तब पर तरफ से उपयोग हटकर अंदर में आता है। तो वह उपयोग स्वप्रकाशक है। उपादेयरूप से ज्ञायक को जानता है।

उपादेयपने ज्ञायक को जानता है वह निश्चय स्वप्रकाशक हुआ। और उसका जो सामर्थ्य प्रकट हुआ स्वपर का, तो आनंद को भी जानता है। यह अंदर का सामर्थ्य है। वह बाहर का सामर्थ्य है। आहाहा! ऐसी स्व-परप्रकाशक की कथा बहुत अच्छी इसमें है। कथंचित्, इतने शास्त्रों में, दिगंबर शास्त्रों में कहीं भी कथंचित् स्व-परप्रकाशक नहीं लिखा है। स्व-परप्रकाशक की बात स्थान-स्थान पर आती है, लेकिन आगे कथंचित् विशेषण लगाया, वह इन एक आचार्य ने ही लगाया है। भावी तीर्थंकर हैं ये, स्वयं लिख गये हैं। स्वप्रकाशक पूर्वक निश्चय से, स्व-परप्रकाशक निश्चय और फिर व्यवहार स्व-परप्रकाशक। ऐसे तीन प्रकार ज्ञानियों के होते हैं। केवली के होते हैं और फिर श्रुतकेवली के भी ये ही जाति होती है।

मुमुक्षु: तीन प्रकार एक ही समय में?

पू. लालचंदभाई: हाँ, एक ही समय में दो। एक ही समय में दो होते हैं। लेकिन जो लोकालोक उसमें प्रतिभासित होता है वह निश्चय में नहीं लिया। वह बाद में लिया। विवक्षा बदली कि आत्मा आत्मा को जानता है, लोकालोक भी उसमें ज्ञात हो जाता है, उसे व्यवहार कहा। इसप्रकार। साधक को थोड़ा क्रम पड़ता है। केवली को कोई क्रम नहीं, एक समय में है। निश्चय स्व-परप्रकाशक और व्यवहार स्व-परप्रकाशक उन्हें एक समय में अक्रमरूप से होते हैं। साधक को क्रम पड़ता है।

निश्चय स्वप्रकाशक और निश्चय स्व-परप्रकाशक एक समय में दो होते हैं। ये दोनों एक समय में। और फिर जब सविकल्प दशा में आता है तब व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान - १२ वीं गाथा है न? वह सविकल्प दशा की है। वह व्यवहार बाद में खड़ा होता है। लेकिन निश्चयपूर्वक व्यवहार होता है। स्व-पर प्रकाशक में, हों। स्व-पर प्रकाशक में भी निश्चय स्व-परप्रकाशक प्रकट होता है, आनंद आता है तब उसे स्व-परप्रकाशक व्यवहार कहा जाता है। अब आनंद ही नहीं आता तो स्व-परप्रकाशक अज्ञान में जाता है। वह तो निगोद में भी है अभी स्व-परप्रकाशक। पंचास्तिकाय है? पंचास्तिकाय लाओ।

मुमुक्षु: वह आनंद १० मिनिट से ज्यादा नहीं रहता उसका क्या कारण?

पू. लालचंदभाई: दस मिनिट नहीं रहता। दस मिनिट (से) बहुत कम, आँख की पलक झपके इतने में तो बाहर निकल जाता है। इतना समय शुरूआत में आनंद, आनंद इतने ही समय तक होता है मात्रा भी कम और समय भी कम। फिर मात्रा भी ज्यादा और समय भी (ज्यादा)।

वह आनंद आया वह भ्रमणा है, दस मिनिट का आनंद। कल्पना है, कल्पना कल्पना है। उस आत्मा का स्वरूप पहले समझो कि आत्मा क्या? आहाहा! मूल बात जीव तत्त्व को समझने जैसा है। ऐसे तो अनेक ध्यानवाले आते हैं, मेरे से अकेले में पूछते हैं कि प्रकाश दिखाई दिया। भाई! प्रकाश नहीं होता, वह तो पुद्गल की अवस्था है। वह ज्ञानप्रकाश अरूपी है। यह जो मैंने कहा न स्व-परप्रकाशक जीवमात्र में होता है, ज्ञप्ति। वह पंचास्तिकाय में १२१ गाथा में आचार्य भगवान ने लिया है। कुंदकुंद का शास्त्र है यह।

अन्वयार्थः- [व्यवहार से कहे जानेवाले एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि 'जीवों' में] इन्द्रियाँ जीव नहीं है और छह प्रकार की शास्त्रोक्त कायें भी जीव नहीं है; उनमें जो ज्ञान है वह जीव है ऐसी [ज्ञानी] प्ररूपणा करते हैं। टीकाः- यह, व्यवहारजीवत्व के एकांत की प्रतिपत्ति का खंडन है। [अर्थात् जिसे मात्र व्यवहारनय से जीव कहा जाता है उसका वास्तव में जीवरूप से स्वीकार करना उचित नहीं है] देह और जीव, एकेन्द्रिय जीव, दो इन्द्रिय जीव यह उचित नहीं है। लेकिन उनमें जो ज्ञान है वह जीव है, इसप्रकार। देह से अलग करके ज्ञान को जीव का लक्षण कहा है। **[ऐसा यहाँ समझाया है]।**

यह जो एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि, 'जीव' इन टू कोमा। **'जीव' कहे जाते हैं, अनादि जीव - पुद्गल का परस्पर अवगाह देखकर** पिण्ड देखकर, क्षेत्रावगाह देखकर **व्यवहारनय से जीव के प्राधान्य द्वारा (-जीव को मुख्यता देकर) 'जीव' कहे जाते हैं। निश्चयनय से उनमें स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी-आदि कायें, जीव के लक्षणभूत चैतन्यस्वभाव के अभाव के कारण, जीव नहीं हैं;** एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय वह जीव नहीं है। शरीर की संज्ञा है वह तो। आहाहा! उसपेमें जानने की क्रिया कहाँ है? **उन्हीं में** एकेन्द्रियादि में, निगोद में भी **जो स्वपर की ज्ञप्तिरूप से प्रकाशमान ज्ञान है** स्वपर की ज्ञप्तिरूप से प्रकाशमान ज्ञान है।

स्वपर का प्रतिभास होता है स्वच्छता में, ज्ञान में। एकेन्द्रिय को भी। **उन्हीं में जो स्वपर की ज्ञप्तिरूप से प्रकाशमान ज्ञान है वही, गुण-गुणी के कथंचित् अभेद के कारण,** पर्याय को, द्रव्य को अभेद गिनकर जीवरूप से प्ररूपण करने में आता है। यह स्व-परप्रकाशक का लकड़ा (शल्य) चला। पकड़ लिया लकड़ा । स्वप्रकाशक भी गया, निश्चय स्व-परप्रकाशक भी गया, ज्ञानी का निश्चयनय के पूर्वक व्यवहार स्व-परप्रकाशक भी गया। तीनों को उड़ा दिया और एक लकड़ा रह गया। स्व-परप्रकाशक, स्व-परप्रकाशक, स्व-परप्रकाशक।

स्व-परप्रकाशक में से परप्रकाशक का निषेध करके स्व-प्रकाशक में आना चाहिए। तो इन्द्रियज्ञान रुक जाये और नया ज्ञान प्रकट हो और आत्मा का अनुभव हो, उसमें स्वप्रकाशक में अनुभव होता है उसी समय आनंद आता है उसे भी ज्ञान जानता है। वह निश्चय से स्व-परप्रकाशक हुआ। ज्ञान+आनंद किया कि नहीं? तो स्व-परप्रकाशक, अंदर ही अंदर में, अभी ध्यान में मग्न है उस समय, फिर बाहर आता है तब स्व-परप्रकाशक का व्यवहार उसे होता है। क्योंकि स्व-परप्रकाशक निश्चय हो उसे स्व-परप्रकाशक का व्यवहार होता है न? निगोद को तो स्व-परप्रकाशक निश्चय प्रकट नहीं होता, अनुभव नहीं है तो उसे स्व-परप्रकाशक वह व्यवहार का अज्ञान में जाता है।

बहुत स्व-परप्रकाशक के विषय में बहुत (भ्रान्ति) चलती है। ज्ञात है हमें। हमसे पूछे तो हम खुलासा करें न, कोई पूछे तो खुलासा करें।

मुमुक्षुः गुरुदेव ने तो बहुत खुलासे किये हैं।

पू. लालचंदभाईः बहुत खुलासा। अरे! गुरुदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि ज्ञान ही जानने में आता है पर जानने में ही नहीं आता। एक ८० के वर्ष का आत्मधर्म है मार्च महीने का। उसमें तो यहाँ तक उन्होंने कहा कि आत्मा पर को जानता ही नहीं तो पर की तरफ उपयोग रखने की बात ही कहाँ

रही? आत्मा आत्मा को जानता है वह भी स्व-स्वामी का व्यवहार है, उसमें भी साध्य की सिद्धि नहीं है। ज्ञायक तो ज्ञायक है उसमें अनुभव होता है। बहुत कह गये हैं जगह-जगह पर।

आज सुबह भाई आये थे उसमें से वह बताया। १८३६ पॉइंट। पुस्तक छपती है न दूसरी अभी ही। उसका एक कारण है कि उसे अनादिकाल से इन्द्रियज्ञान प्रकट होता है और इन्द्रियज्ञान पर की ही प्रसिद्धि करता है। ऐसा उसे अभ्यास, अध्यास अनादिकाल से है। अनादिकाल से, आज नया नहीं है। समझ गये? अब उसे पूरा चक्कर पलटना है, उसका निषेध करना है। ऐसे ऐसे यह (लकड़ी) जानने में आती है यह प्रत्यक्ष। यह घड़ी ज्ञात होती है, चार बजने में आठ मिनिट हैं, प्रत्यक्ष जानने में आता है। कि नहीं जानने में आता, तेरा ज्ञान जानने में आता है, (ऐसा) ले। यदि अनुभव करना हो तो। और वरना करो लहर। उसमें कौन, कोई जबरदस्ती तो है नहीं कोई। तुम्हारा अभिप्राय तुम्हारे पास है, रखो। पर जानने में आता है, पर जानने में आता है, पर जानने में आता है, जानो जाओ। अनंतकाल गया पर को जानते हुए।

उसमें हमारे ऊपर जब हल्ला (विरोध) आया, कि आत्मा पर को नहीं जानता, वास्तव में जाननहार जानने में आता है। तब मुंबई में मेरे बड़े पुत्र ने मुझसे पूछा, मुझे भाई कहते हैं। कोई पापा कहते हैं, कोई भाई कहते हैं, व्यवहार अलग-अलग होता है ना। कि यह आत्मा पर को जानता नहीं यह आप जो बात करते हो उसके सामने इतना द्रोह है तो तुम्हारे पास क्या दलील है उसकी? न्याय दो न कुछ। मैंने कहा, ऐसा है? अच्छा प्रश्न है तेरा। देख, इतने वर्ष की तेरी उम्र हुई तो पर को तू जान रहा है न? तो कहा, हाँ, मैं पर को जानता हूँ। (तो मैंने पूछा) आनंद आया? तो कहा नहीं, आनंद नहीं आया। नहीं आनंद आया तो विभाव है। इस शास्त्र की कोई जरूरत नहीं है तुझे। ले। किस शास्त्र में क्या लिखा है स्वप्रकाशक, वह कोई तुझे जरूरत नहीं है। मैं तुझे पूछता हूँ कि यदि पर को जानने पर आत्मा को आनंद आता हो तो परप्रकाशक योग्य है। कोई दिक्कत नहीं है मुझे। लेकिन तुझे आनंद आया? कहता है नहीं, मुझे आनंद नहीं आया। तो वह मिथ्या है। वहाँ से व्यावृत्त हो, वापस मुड़ जा। उसका निषेध कर व्यवहार का। और अंदर में जा कि जाननहार ज्ञात होता है। तो आनंद आयेगा तुझे। तो हमारी बात सत्य है ऐसा मानना।

बड़ा शल्य है यह। उसके लिए आचार्य भगवान ने बंध अधिकार में बहुत सुंदर बात की है। कि' मैं पर को मार सकता हूँ' ' बचा सकता हूँ' 'सुखी-दुःखी कर सकता हूँ' ऐसा जो तेरा अभिप्राय है वह भावकर्म है, अध्यवसान है, मिथ्यात्व है, स्व-पर की एकताबुद्धि तेरी हुई है। वह तो ठीक। भावबंध, भावबंध अर्थात् मिथ्यात्व। फिर आगे बढ़कर कहते हैं कि मैं धर्मास्तिकाय को जानता हूँ वह अध्यवसान, मिथ्यात्व है। यह भावबंध की पराकाष्ठा। दूसरों को मारने का भाव वह तो भावबंध, मिथ्यात्व, अज्ञान है ही। लेकिन मैं पर को जानता हूँ वह समकक्षी भावबंध है, मिथ्यात्व है तुझे। क्योंकि जानने में आता है ज्ञान अथवा जानने में आता है अभेद से ज्ञायक। भेद से ज्ञान जानने में आता है, अभेद से ज्ञायक जानने में आता है। सभी को, हों!

भेद से देखो तो ज्ञान की पर्याय जानने में आती है और अभेद से देखो तो ज्ञायक जानने में आता है। समझ में आया? ऐसी स्थिति होने पर भी तू स्व को चूककर (ऐसा कहता है कि) 'यह मुझे

धर्मास्तिकाय जानने में आता है'। जा तेरा अज्ञान है। आहाहा! समकक्षी बंध होता है। फिर २७१ कलश है। उसमें राजमलजी साहब लिखते हैं, कि मैं ज्ञायक और ये छह द्रव्य (जो) सर्वज्ञ भगवान ने कहे हैं (वो मेरे ज्ञेय)। जैनमत में आ गया फिर भी मिथ्यादृष्टि रह गया। उसे चेताते हैं अब। कि छह द्रव्यों को तो हम ठीक जानते हैं। कि छह द्रव्य तेरा ज्ञेय और तू ज्ञाता वह तो तेरी भ्रान्ति है। तेरी भ्रान्ति है, तुझे छह द्रव्य नहीं ज्ञात होते। छह द्रव्य से भिन्न ज्ञान ज्ञात होता है तुझे। आहाहा!

बड़ी भ्रान्ति ऐसा लिखा है। बहुत भ्रान्ति चलती है। आत्मा ज्ञायक और छह द्रव्य मेरे ज्ञेय। उसके ऊपर प्रवचन हो गये हैं। उसके ऊपर १३ प्रवचन हैं न? अध्यात्म प्रवचन रत्नत्रय। आहाहा! वह पुस्तक बहुत ऊँची है। लाइफ टाइम पढ़ने जैसी है। लाइफ टाइम। ध्येय, ध्यान और ध्याता। तीन प्रकार उसमें आ गये हैं। ध्येय किसे कहते हैं? ध्यान का विषय। और ध्यान कैसे करना आत्मा का? और फिर ध्यान का फल क्या आता है? ये सभी बातें संकलित हैं उसमें। लाइफ टाइम पढ़ने जैसी है। वह पुस्तक खतम हो गई थी। अभी हजार छपाई हैं लंदनवालों ने। तो हजार में से ५०० तुरंत ही खप गई देवलाली में। अब ५०० में से कुछ समाप्त हुई होंगी, ४०० होंगी। दूसरी आवृत्ति छपवाई है।

केवल मात्र सुनकर निर्णय करने की अपेक्षा अंदर में मंथन करके निर्णय करना। वास्तव में तो आत्मा से पूछना, उलझन हो न तब छह महीने तक तो किसी से पूछना ही नहीं। यदि तुम दूसरों से पूछने जाओगे तो इसका अपमान किया, अंदर बैठा है भगवान। वह कहता है जा भटक जहाँ तहाँ पूछ। अंत में तो मेरे पास ही (आएगा)। सच्चा जवाब तो अंदर से आएगा। पूंजाभाई! (मुमुक्षु: होता है वह आता है।) हं (हाँ).. सर्वज्ञ स्वभावी विराजमान है परमात्मा अभी। आहाहा! परिपूर्ण परमात्मा है।

मुमक्षु: शाश्वत बिराजमान है।

पू. लालचंदभाई: शाश्वत। आया था ना अनंत नय प्रगट। प्रगट आया था न? फिर ७३वीं गाथा में प्रत्यक्ष कहते हैं। आत्मा प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं। परोक्ष रहे ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है।

मुमुक्षु: उसकी महिमा आती ही नहीं है।

पू. लालचंदभाई: बाहर की महिमा है। कोई धनार्थी और कोई मानार्थी बस। कोई धन की लोलुपता से और कोई मान की लोलुपता बस। जानने के लोभ में सारा ही यह संसार है। जानने का लोभ हो गया है अनंतानुबंधी का। तुम कहाँ गये थे? कहाँ से आये हो? कब जाते हो? अब तुझे क्या है? रहने दे न पंचायत। कुछ प्रयोजन नहीं होता फिर भी पराये की पंचायत में पड़ गया है।

प्रमाण के बाहर जाना नहीं और प्रमाण में अटकना नहीं। प्रमाण के बाहर ये सभी पदार्थ हैं। तुझे क्या काम है? होने योग्य सब हुआ करता है। आहाहा! अंदर में द्रव्य और पर्याय उनके बीच का विचार कर, वर्तुल (परिधि) को छोटा करके। आहाहा! ११ भाग प्रकाशित हो गये वह बहुत अच्छा हुआ। सब खुलासे हैं उनमें। स्व-परप्रकाशक के लिये तुम्हें हिम्मतनगर नहीं आना पड़ा। मैंने कहा हिम्मतनगर आना आराम से बात करेंगे। आने की छूट है। थोड़े दिन यहाँ रुकना है, फिर देवलाली।

मुमुक्षु: स्व-परप्रकाशक में दिगंबरों को भी भ्रान्ति है, दूसरों में तो है ही।

पू. लालचंदभाई: दिगंबरों में क्या, बड़े पंडितों में भ्रान्ति है।

उसका कारण है। एक तो गहराई से उस प्रकार का आत्मलक्षी स्वाध्याय कम है। स्वाध्याय है

अवश्य लेकिन.. आत्मलक्षी स्वाध्याय कम है। इसलिए पास ऑन (pass on) (ऊपर से ही पसार) हो जाता है। नियमसार तो सभी ने पढ़ा है। पास ऑन हो जाता है। यह क्या लिखा है? केवली के लिये स्व-परप्रकाशक कथंचित्? आहाहा! यह क्या लिखा है? स्व-परप्रकाशक में ये कथंचित् क्या? कथंचित् है। निश्चय और व्यवहार दोनों। उसके ऊपर गुरुदेव के व्याख्यान हो गये हैं, टेप हैं। सारा साहित्य तो बाहर आ गया है।

एक पर की कर्ताबुद्धि और एक पर की ज्ञाताबुद्धि अनंत दुःख का कारण है। उसके लिये एक अमितगति आचार्य हो गये हैं। उन्होंने योगसार लिखा है। उन्होंने अनुभव का बहुत सरल उपाय बताया है। बिल्कुल शास्त्र पढ़ना न आता हो, अंगूठा छाप हो, संस्कृत न आती हो, कुछ न आता हो तो भी अनुभव हो जाये। ऐसी एक सादी बात उन्होंने की है। उन्होंने एक उदाहरण दिया। कि दीपक है वह प्रकाशक है, और उसकी जो प्रकाश पर्याय है वह प्रकाश, प्रकाशक और प्रकाश। और प्रकाश्य - घट, पट जो बाहर के पदार्थ हैं वे उसमें जानने में आते हैं। प्रसिद्ध होते हैं। इसप्रकार तीन स्थिति हैं। तब वे ऐसा फरमाते हैं कि जो प्रकाश से अभिन्न है दीपक वह तुझे जानने में नहीं आता। और प्रकाश से भिन्न घड़ा है वह तुझे जानने में आता है। हमें तो आश्चर्य होता है तेरी मूर्खता पर। आश्चर्य होता है, ऐसा लिखा है।

यह तो दृष्टांत हुआ। अब सिद्धांत में घटाते हैं। आत्मा है वह ज्ञायक है और उसकी प्रति समय ज्ञान की पर्याय भी होती है, और उस ज्ञान की पर्याय में तुझे पर जानने में आता है। सभी पदार्थ, शास्त्र वगैरह देव, गुरु, शास्त्र जानने में आते हैं, राग जानने में आता है, क्रोध जानने में आता है सब कुछ बाहर का तुझे तेरी ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होता है। तो कहते हैं कि तेरी ज्ञान की पर्याय में जो अभेद आत्मा है वह ज्ञात नहीं होता और ज्ञान की पर्याय (से) भिन्न हैं वे तुझे ज्ञात होते हैं? आश्चर्य होता है। तो अब क्या करना? तो करना क्या? कि ज्ञेय को जानकर वहाँ से व्यावृत्त हो, वापस मुड़, रिबाउन्ड। जैसे बच्चे बॉल मारते हैं न तो उन्हें पता है कि बॉल मेरे हाथ में आयेगी, वहाँ चिपक नहीं जायेगी। ऐसे फट से कैच कर लेते हैं।

ऐसे ही यहाँ कहते हैं कि ज्ञेय को जानकर वहाँ से व्यावृत्त हो, वापस पलट जा कि ज्ञेय जानने में नहीं आता, मेरा ज्ञान जानने में आता है, ज्ञायक जानने में आता है। इतना करेगा तो अनुभव हो जायेगा। एकदम सीधा-साधा उदाहरण है। अमितगति आचार्य ने कहा है। संवर अधिकार या निर्जरा अधिकार में है यह।

मुमुक्षु: निर्जरा अधिकार में।

पू. लालचंदभाई: निर्जरा अधिकार में है। ज्ञानियों ने तो करुणा करके, बहुत सरल करके बातें की हैं। उसे 'पर को मैं जानता हूँ' क्या नहीं जानता? यह घड़ी क्या जानने में नहीं आती? भाई! यह ज्ञानियों के सामने बाहें चढ़ाने (बहस करने) जैसा नहीं है। ज्ञानी तेरे हित की बात करते हैं कि यह घड़ी ज्ञात नहीं होती (तुझे) ज्ञान ज्ञात होता है। पर से खिसक जा। यह केवल अनुभव कैसे हो उसकी प्रधानता है। जानने की प्रधानता नहीं है अभी। जीवों को जानने का लोभ है। आहाहा! जानने के लोभ में सारा यह संसार है। बोलो! अनंतानुबंधी का लोभ। वरना व्यवहार के कथन तो अपार आयेंगे शास्त्रों

में। ढ़ेर होंगे। शुद्धनय का कथन कहीं, विरल। आहाहा! थोड़े, निश्चय के कथन कम, व्यवहार के कथन ज्यादा।

एक पंचाध्यायी शास्त्र है, उसमें बहुत अच्छी बात लिखी है। कि जितना व्यवहारनय का उपदेश है उतना सभी मिथ्या है। जितना व्यवहारनय से प्रतिपादन करने में आया वह सभी मिथ्या है, झूठा। और उसके ऊपर दृष्टि रखनेवाले जीव भी मिथ्यादृष्टि हैं, और जितना निश्चयनय का निरूपण है वह सत्यार्थ है, उसके ऊपर दृष्टि रखनेवाले सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। व्यवहारनय का जितना कथन है उतना मिथ्या है। मिथ्या उपदेश देता है व्यवहार। व्यवहार मिथ्या उपदेश को देनेवाला है और इसलिए वह मिथ्या है। और उसके ऊपर दृष्टि रखे अर्थात् श्रद्धा का विषय बना दे, उसे सत्यार्थ माने, तो मिथ्यात्व का दोष तुझे लगेगा। आहाहा!

व्यवहार के कथन तो अपार आते हैं, या तो कहे कुम्हार से घड़ा होता है, वह स्थूल व्यवहार। फिर मिट्टी से घड़ा होता है, सूक्ष्म व्यवहार, व्यवहार है वह। मिट्टी से घड़ा होता नहीं। जयंतीभाई! कुम्हार से तो (घड़ा) नहीं होता लेकिन मिट्टी से भी, आहाहा! क्या बात करते हो? मिट्टी से ही होता है, कुम्हार से न हो तो कोई बात नहीं। हमने बहुत समय से सुना है तो कुछ हमारा अज्ञान गला है, गया तो नहीं है। मिट्टी से नहीं होता भाई! मिट्टी से होता हो तो घड़े एक जैसे होने चाहिए। और घड़े (मिट्टी) में से तवा ही न बने, घड़ा ही बना करे। मिट्टी कर्ता हो और घड़ा कर्म हो तो घड़ा ही बना करे। फिर तवा तो बने नहीं। आहाहा! ऐसा है नहीं।

एक परमाणु का उदाहरण दिया गुरुदेव ने। एक परमाणु अलग, स्कंध में से अलग करो। विचारने के लिये। और उसके गुण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण। मुख्य चार गुण हैं न। तो अब वर्ण गुण की उसकी पर्याय होती है। तो पहले समय ४० डिग्री सफेद हुई पर्याय, दूसरे समय में हुई, तीसरी काली हो गई। चौथे, पाँचवे समय में हो तो ब्लू हो जाती है। तो अब उसका गुण तो सदृश एक ही है वर्ण नाम का। गुण का बदलाव नहीं हुआ। गुण तो वही का वही है। प्रत्येक पर्याय में गुण तो सदृश वही का वही है, अन्वयरूप से। पर्याय में बदलाव हुआ तो निश्चित होता है कि पुद्गल द्रव्य उस पर्याय का कर्ता नहीं है, पर्याय की कर्ता पर्याय है। स्वत: होती है। तब उपचार से पुद्गल करता है ऐसा कहने में आता है। ऐसी सूक्ष्म बातें हैं, प्रतीक।

कर्ताबुद्धि बहुत मार डालती है। है ज्ञाता मानता है कर्ता। बस। वह भूल हो गई। बोलो किसी को अभी प्रश्न हो तो, टाइम बहुत है। नहीं तो अब भक्ति ले लो।

मुमुक्षु: सामान्य प्रमाण में, आगम प्रमाण और अध्यात्म प्रमाण में.. .. ..

पू. लालचंदभाई: आगम प्रमाण में ऐसा है कि द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध और पर्याय शुद्ध और अशुद्ध। वह सभी जब ले लो तब आगम प्रमाण कहलाता है। शुद्ध-अशुद्ध पर्याय का पिंड उसे द्रव्य कहते हैं। वह आगम प्रमाण कहा जाता है। अध्यात्म प्रमाण में राग निकल जाता है। द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध और पर्याय शुद्ध उसे अध्यात्म प्रमाण कहने में आता है।

मुमुक्षु: व्यवहारनय यदि मिथ्या उपदेश का देनेवाला है .....

पू. लालचंदभाई: प्रश्न सही आया है। कि व्यवहारनय यदि मिथ्या उपदेश का देनेवाला है तो

सर्वज्ञ भगवान की वाणी में निश्चय का उपदेश है और व्यवहार का भी उपदेश है। दो नयाश्रित है न वाणी, द्विनयाश्रित है। परस्पर सापेक्ष निश्चय और व्यवहार, परस्पर सापेक्ष जोड़ा है। तो ऐसा प्रश्न आया कि व्यवहारनय यदि झूठा उपदेश देता है तो जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि में व्यवहार की बात तो उन्होंने की है। व्यवहार की बात उन्होंने की है और फिर उसका निषेध करना वह भी उन्होंने बात की है। क्या कहा? अकेले व्यवहार की बात की, यह फुल पॉइन्ट (fullstop) नहीं है। लेकिन व्यवहारनय का ज्ञान करके तू उसका निषेध करना निश्चयनय के द्वारा, निर्दय होकर। ये वाक्य किसका है? ये वाक्य भी उन्हीं का है।

व्यवहारनय को जानकर निश्चयनय के द्वारा तू उसका निषेध करना। ये वाक्य किसका है? सर्वज्ञ भगवान का। तो व्यवहारनय संयोग का ज्ञान कराता है। निश्चयनय स्वभाव का ज्ञान कराता है। व्यवहारनय संयोग का ज्ञान कराता है मात्र। उसकी मर्यादा इतनी है। और निश्चयनय जैसा स्वभाव है ऐसा भान करा देता है। इसलिए निश्चयनय उपादेय है। व्यवहारनय हेय है। संयोग का.., देह और आत्मा जब एक क्षेत्र में होते हैं तो देह जीव है ऐसा कहे, आत्मा कर्म से बंधा हुआ है ऐसा कहे, आत्मा में राग-द्वेष होता है ऐसा भी व्यवहारनय कहता है। निश्चयनय कहता है कि देह से बंधा ही नहीं है। देह है ही नहीं आत्मा को। देह से रहित आत्मा है। विदेही है अभी। अशरीरी है आत्मा अभी। अभी, हों! आत्मा कर्म से बंधा हुआ नहीं है, अबद्ध है। आत्मा राग से संयुक्त है ही नहीं। व्यवहारनय कहता है संयुक्त है। निश्चयनय कहता है राग से रहित आत्मा है।

यह दो नयों का कथन है उसके लिये मोक्षमार्ग प्रकाशक में बहुत सुंदर दो वाक्य आये हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक। कि जितना व्यवहारनय का कथन निरूपण हो उसे असत्यार्थ जानकर उसका श्रद्धान छोड़ना और जितना निश्चयनय के द्वारा निरूपण करने में आया हो वह सत्यार्थ है ऐसा जानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना। आहाहा! दो वाक्य हैं, मोक्षमार्ग प्रकाशक में। वे स्टीकर अभी निकले हैं। यहाँ आये हैं या नहीं, हैं? हैं न? व्यवहारनय को सत्यार्थ माना है वह अज्ञान है। व्यवहारनय सत्य लगता है तब तक निश्चयनय तिरोभूत हो जाता है। स्वभाव ढँक जाता है। दिखता नहीं है।

मुमुक्षु: व्यवहारनय का श्रद्धान किस भूमिका में छोड़ना?

पू. लालचंदभाई: हाँ, सम्यग्दर्शन जिसे प्रगट करना हो उसे (व्यवहारनय का) श्रद्धान छोड़ देना।

व्यवहार छोड़ने की बात नहीं है, उसका श्रद्धान छोड़ना। व्यवहार तो नहीं छूटेगा। वह तो ज्ञानी होने के बाद भी शुभभाव जानने में आयेगा वह व्यवहार। शुभभाव करना वह अज्ञान, शुभभाव आये उसे जाने उसका नाम व्यवहार। जगत को ऐसा लगता है कि शुभभाव करना वह व्यवहार। शुभभाव करना वह अज्ञान। शुभभाव आता है अपने कालक्रम में उसे जानना कि शुभभाव है। उससे भिन्न मैं हूँ ऐसा जानना। उसका नाम व्यवहार है। जानना वह व्यवहार, करना वह व्यवहार नहीं। वह तो अज्ञान है, कर्ताबुद्धि है। आहाहा! बड़ा फर्क है।

एक बार, बहुत समय पहले की बात है। राजकोट में वांचन करता था पहले तो। लगभग बीस वर्ष पहले की बात है, तो निश्चयप्रधान कथन शैली हमारी तो है ही स्वभाव से पहले से, तो एक भाई ने कहा, बड़ा, बड़ा व्यक्ति सामान्य अपेक्षा से। तो कहा, तो कहा, लालचंदभाई! आप जो निश्चय की बात

करते हो न वह तो ठीक है लेकिन साथ में थोड़ी व्यवहार की बात तो करते जाओ। तो सोने में सुगंध मिल जायेगी। मैंने कहा ठीक है कल से मैं व्यवहार की बात करूँगा। इसलिये उन्हें ऐसा लगा कि शुभभाव करने के लिए कहेंगे कुछ। आहाहा! उनको यही चाहिए था। लेकिन हमारे पास से ये आशा रखी वह तो हद करी। वह बात तो निकलने वाली ही नहीं है। वीतराग की गद्दी पर बैठकर आत्मा राग को करे? आहाहा! वह तो वीतराग की गद्दी को लांछन है। दूसरा दिन हुआ, व्याख्यान में आये। हमने कहा, कल एक मुमुक्षु भाई की मांग थी कि हमें व्यवहार चाहिए। ठीक है। मांग यथास्थान पर है। और वह व्यवहार भी है। अनुभव से पहले भी व्यवहार होता है और अनुभव के बाद भी व्यवहार होता है।

तो वह व्यवहार क्या है? कि जो शुभाशुभ भाव आते हैं उनसे आत्मा भिन्न है ऐसा बारंबार विचार करना उसका नाम व्यवहार। विचार करना उसका नाम व्यवहार। शुभाशुभ भाव करना उसका नाम व्यवहार नहीं। वह सविकल्प, उसे भेदज्ञान कहते हैं। 'सविकल्प भेदज्ञान' कि देह से मेरा आत्मा भिन्न है, कर्म से भिन्न है, राग से भिन्न, एक समय की पर्याय के भेद से भी मैं भिन्न हूँ। ऐसे मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, मैं सामान्य टंकोत्कीर्ण परमात्मा हूँ, इसप्रकार भेदज्ञान का बारंबार विचार करना उसका नाम व्यवहार है। उस व्यवहार में मिथ्यात्व गलता है, मिथ्यात्व गलता है और शुभभाव की कर्ताबुद्धि रखता है तो मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है। व्यवहार नहीं है। जिनागम ने उसे व्यवहार नहीं कहा, जाना हुआ प्रयोजनवान कहा। क्या कहा? (मुमुक्षु: जाना हुआ प्रयोजनवान) 'किया हुआ' नहीं लिखा है कहीं।

पूरा जगत ऐसा मानता है कि पहले व्यवहार होता है और बाद में निश्चय होता है, व्यवहार अर्थात्? कषाय की मंदता करनी यह बात शास्त्रों में भी आती है। श्रीमद् में भी ऐसे वाक्य तो बहुत आते हैं। शांत पहले होता है, कषाय की मंदता होती है, पात्रता होती है वगैरह-वगैरह। बहुत बातें व्यवहार की आती हैं, उससे भिन्न आत्मा है ऐसा विचार करना वह व्यवहार निश्चय के अनुकूल है। शुभभाव करना वह प्रतिकूल है सम्यग्दर्शन में। सम्यग्दर्शन तीनकाल में नहीं होगा। गेरंटी। आहाहा!

जो क्रिया करने से तुझे दुःख हो वह क्रिया करने की अभिलाषा तुझे क्यों है? शुभभाव से भी दुःख और अशुभ से भी दुःख, एक सोने की बेड़ी और एक लोहे की बेड़ी। कोई कहे कि भाई तुझे बांधना है लेकिन सोने की बेड़ी से बांधना है। लोहे की बेड़ी से (नहीं)। ना, भाईसाहब! मुझे बंधना नहीं है। बंधन की अपेक्षा से दोनों ही समान हैं। उल्टा वजन उसमें ज्यादा होता है। गले पड़ गया है यहाँ। शुभभाव तो इतना गले पड़ा है। आहाहा!

मुमुक्षु: प्राथमिक स्टेज में तो व्रत, नियम जरूरी हैं कि नहीं?

पू. लालचंदभाई: प्राथमिक जीव में शुभभाव से आत्मा अलग है, ऐसा बारंबार जानना। उसका नाम प्राथमिक है। शुभभाव करना वह प्राथमिक भूमिका नहीं है। क्योंकि जो वीतराग परमात्मा हुए, वीतराग हुए वे राग करने का उपदेश नहीं देते। राग आता है उसे जानते हैं। राग आता है उसे जानते हैं, उसका नाम व्यवहार।

मुमुक्षु: व्रत, नियमों की जरूरत नहीं?

पू. लालचंदभाई: व्रत, नियम आते हैं उनको जानता है, उसका नाम व्यवहार। व्रत, नियम करने जैसे हैं तो मिथ्यात्व। व्रतादि आते हैं, पंचम गुणस्थान में देशव्रत, पाँच महाव्रत के परिणाम छठ्ठे

गुणस्थान में आते हैं। आना और करना उसमें आसमान जमीन का फर्क है। बड़ा फर्क है। व्रत, नियम, उपवास आते हैं, सभी भाव आते हैं। ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेता है, परिग्रह का परिमाण लेता है, उस जाति के मंद कषाय के भाव आते हैं, लेकिन साधक मंद कषाय को करता नहीं है, आहाहा! करता हुआ दिखता है लेकिन करता नहीं है। उसे जानता हुआ दिखता है लेकिन उसे जानता नहीं है। वह तो जाननहार को जानता है।

ज्ञेय का सद्भाव या अभाव, दोनों के समय पर भी ज्ञायक जानने में आता है। ज्ञेय के सद्भाव में भी जाननहार जानने में आता है और ज्ञेय के अभाव में निर्विकल्प ध्यान में भी (जाननहार जानने में आता है)। आहाहा! छट्ठी गाथा में कहा है, ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ वह स्वरूप प्रकाशन की अवस्था में भी ज्ञायक ही है। आहाहा! वे सविकल्प दशा में क्या करते होंगे? उसका ज्ञान आत्मा को जाना करता है इसलिए तो निर्जरा होती है। यदि ज्ञान आत्मा को जानना छोड़ दे तो मिथ्यादृष्टि हो गया। तो तो बंध जाए। निर्जरा होती है न तो समय-समय शुद्धि की वृद्धि, तो शुद्धि की वृद्धि कब होती है? कि ज्ञान का अवलंबन आत्मा में हो, स्थिरता बढ़ती हो अंदर में, समझ गये? तो निर्जरा होती है।

एक समय भी ज्ञान आत्मा को जानना छोड़ता नहीं। भले ही इन्द्रियाँ पर को जानती हों लेकिन अतीन्द्रियज्ञान स्व को जानता है। एक ज्ञान की पर्याय में दो भाग पड़ गये हैं। एक ज्ञानचेतना और एक कर्मचेतना। पर्याय एक, भाग दो हैं। ज्ञान की पर्याय एक, स्वमुख से अतीन्द्रियज्ञान और पराश्रित है वह इन्द्रियज्ञान, पर्याय एक, भाग दो हैं। एक बंध का कारण इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान मोक्ष का कारण होता है। समय एक है। पर्याय एक, भाग दो। इसलिये तो साधक कहलाता है न? साधक अर्थात् बाधक तत्त्व है। थोड़ा आस्रवभाव होता है। संवर-निर्जरा है उसके साथ आस्रवभाव भी है। मोक्ष हुआ नहीं है पूरा। तो साधक को भी ऐसे भाव आते हैं। शुभभाव आते हैं, अरे! अरे! अशुभ भी आते हैं, नीचे, चौथे, पाँचवें गुणस्थान में, रौद्र ध्यान भी होता है। पंचम गुणस्थान तक रौद्र ध्यान कहा है। तो भी सम्यग्दर्शन का बाधक नहीं होता। चारित्र का बाधक है। चारित्र में बाधक है, घातक है जरूर, राग चारित्र को घातता है। और 'राग मेरा' तो सम्यग्दर्शन का घात हो गया।

राजपाट में हो बाहर के पुण्य के कारण से, पूर्व के पुण्य बंधे हों तो राजा हो जाये। अरे! चक्रवर्ती हो जाये। भरत महाराजा प्रति समय निर्जरा रत। ६०००० वर्ष तक लड़ाई में गये और पिता की ओमकार ध्वनि सुनने नहीं गये। सुनने नहीं गये अर्थात् अपने कालक्रम में वह भाव आता है। उसका स्वयं स्वकाल और स्वभाव वह प्रकट होता है पर्याय का, आहाहा! उसे आत्मा नहीं करता। वह ज्ञात होता है लेकिन उसे जानता नहीं है। वह तो जाननहार को जानता है। ऐसे अंदर के खेल हैं।

मुमुक्षु: आपने एक बात बताई थी इष्टोपदेश में, इष्टोपदेश में।

पू. लालचंदभाई: देखता है लेकिन देखता नहीं, जानता है तो भी जानता नहीं, चलता है तो भी चलता नहीं। यह अंदर की रमत है, रूखे परिणाम हो गये हैं भाई! उसके परिणाम में चिकनाई, मिथ्यात्व की चिकनाई निकल गयी है। तेल का मर्दन निकाल दिया है उसने। धूल चिपकती नहीं है।

उसके लिये एक उदाहरण बहुत सुंदर, छोटी उम्र की बात करता हूँ। आठ, दस वर्ष की उम्र

होगी, उसमें दूसरे अन्यमति के बच्चों के साथ पढ़ते हों तो बात-चीत करते हैं न, उसमें एक लड़का बारह-चौदह वर्ष का आया और बात करने लगा, मैंने सुनी बात, ऐसी बात की कि कृष्ण महाराज हैं न तो उनकी १६००० स्त्री हैं, रानी। फिर उन्हें एक विचार आया कि ये गंगा नदी के सामने किनारे पर एक ऋषि हैं तो उन्हें तुम ये भोजन दे आओ। तो सेवक को बुलाया। लड्डू का थाल भरा हुआ संपूर्णतया। तो सेवक ने कहा कि साहेब! यह गंगा नदी किस तरह से पार करूं मैं? दोनों किनारों पर पानी जाता है, पुल तो है नहीं। तो कहा, नदी किनारे जाकर कहना कि कृष्ण महाराज सदा ब्रह्मचारी हों, सदा, हों! अष्टमी चौदस नहीं। सदा ब्रह्मचारी हों तो तू मार्ग देना। इसे लगा कि ऐसे गप्पे मारते हैं, उसमें कहीं नदी मार्ग देगी? लेकिन बोला जाये कैसे? राजा के सामने बोला नहीं जाता। जी महाराज! चल दिया थाल लेकर। और जैसा कहा था वैसा बोला। और फट से मार्ग हो गया और चला गया सामने किनारे पर, और ऋषि महाराज को भोजन कराया। ऋषि महाराज ओ.. डकार मारते थे। ऋषि महाराज मुझे सामने किनारे पर जाना है किसतरह से जाऊँ?

दोनों किनारों पर नदी बह रही है। (नदी वापस एक हो गई थी।) तो कहा, हाँ यह बात तेरी सत्य है। जा नदी किनारे जाकर कहना कि यदि ऋषि सदा उपवासी हों तो मार्ग देना। अरे! लेकिन ये लड्डू सामने खाए हैं, झपट्टा मारा है, हें! यह तो उदाहरण है, हों ! यह तो दृष्टांत है। कितना अंदर में रूखापना होता है, साक्षीभाव कितना प्रकट होता है, इसका उदाहरण है। और गया, समझे गये? मार्ग हो गया। चला गया। वह आया राजा के पास, आहाहा! आज तो चमत्कार हुआ। मुझे तो बैठता नहीं था लेकिन आपके सामने बोला नहीं जाता। आपने ऐसा कहा और उन्होंने भी ऐसा कहा। नदी मार्ग देती है।

ऐसी अंदर की रमत है। आहाहा! प्रति समय निर्जरा होती है। बंध अल्प होता है उसे गौण करके बंध नहीं होता ऐसा भी दृष्टि की मुख्यता से कहा जाता है। होता है बंध थोड़ा। बंध तो होता है। अनंत बंध का कारण नहीं है, थोड़ा अल्प बंध होता है। नफा ज्यादा और नुकसानी कम। अंदर के भेदज्ञान की ये सभी बातें हैं। इष्टोपदेश में बहुत सुंदर है - देखता है पर देखता नहीं, चलता है पर चलता नहीं, आहाहा!

मुमुक्षु: आबाल-गोपाल सभी को, स्वयं ही जानने में आ रहा है, बैठती क्यों नहीं ये बात?

पू. लालचंदभाई: बिठाता नहीं है स्वयं इसलिए। स्वयं बिठाता नहीं है। स्वयं बिठाता नहीं है, बस।

उसे ऐसा विश्वास नहीं आता, गहराई से विचार नहीं किया ऐसा हो सकता है या क्या? थोड़ा गहराई से विचार करे तो हो सकता है, इतना तो आ जाये। प्रकाश है तो सूर्य को प्रसिद्ध करता है, भले सूर्य न दिखा हो तो भी अनुमान में आ जाता है। प्रकाश है तो प्रकाशक (तो) होना (चाहिए)। पर्याय है तो द्रव्य होना चाहिए। यहाँ ज्ञान प्रकट होता है तो ज्ञायक द्रव्य होना चाहिए। इसप्रकार अनुमान करके भी जरा, जरा अंदर में आगे बढ़े तो विश्वास आने लगे, ओहो! बात तो सत्य है।

मुमुक्षु: बारंबार ऐसा विश्वास करना?

पू. लालचंदभाई: विश्वास करना चाहिए। आहाहा!

अब एक ज्योतिषी पांच रूपये लेकर ज्योतिष देख देता है। उसके ऊपर विश्वास है और बहुत प्रशंसा लिखी हो तो पांच के बदले दस रूपया दे देता है। अब ये बड़े सर्वज्ञ भगवान ज्योतिषी त्रिकाल वेत्ता, वे लिखते हैं कि तेरे ज्ञान में आत्मा जानने में आता है, जा। आहाहा! उन ज्योतिषी को मानता नहीं है। वह ज्योतिष देख दे उसे, पाँच रूपये कहे हों लेकिन यदि बहुत अच्छा लिखा हो, जाओ ज्योतिष महाराज तुम्हें दस रुपया इनाम देता हूँ। लेकिन ये त्रिकाल वेत्ता सर्वज्ञ भगवान, अफर। वह (ज्योतिष का कहा हुआ) तो हो या न हो, वह तो समझने जैसा है। समझने जैसा है। लेकिन ये तो अफर। होता है, होता है और होता ही है। आहाहा!

अब यह (लकड़ी) जानने में आती है इसका पूरा विश्वास है। मैं ऐसा कहता हूँ कि यह लकड़ी है या कुत्ता है? सभी कहेंगे कि लकड़ी, लकड़ी, लकड़ी ही जानने में आती है, कुत्ता नहीं है यह। लकड़ी है। लेकिन यह जानने में आती है या ज्ञान जानने में आता है? वहाँ आपत्ति बड़ी। ऊर्ध्वरूप से ज्ञान ज्ञान को जाने बिना लकड़ी को जान सकता ही नहीं। जैसे कि क्रोध आया, तो क्रोध आया तो क्रोध तो क्रोध को जानता नहीं। तो क्रोध को जाननेवाला ज्ञान क्रोध से भिन्न है। तो ज्ञान ने ज्ञान को जानकर क्रोध को जाना या ज्ञान को जाने बिना क्रोध को जाना। न्याय समझ में आता है कुछ? ज्ञान ज्ञान को जाने बिना क्रोध को जानता है या ज्ञान ज्ञान को जानकर क्रोध को जानता है?

तो अब क्रोध जानने में आता है, उसके बदले ज्ञान ज्ञान को जानता है, क्रोध के ऊपर से थोड़ा खिसक जाओ और इसकी तरफ आ जाओ तो काम हो जाये। आसान है, मुश्किल नहीं है। धर्म कठिन नहीं है। ज्ञान ज्ञान को जानकर ही क्रोध को जानता है। ज्ञान ज्ञान को न जाने तो तो जड़ हो गया। ज्ञान ज्ञान को जानता है। सूर्य का प्रकाश प्रकाश को भी प्रकाशित करता है और घट को भी प्रकशित करता है। घट को प्रकाशे और प्रकाश पर्याय उसे न प्रकाशे तो तो अँधेरा कहलाये। उदाहरण समझ में आता है? सूर्य की बात तो जाने दो लेकिन उसका प्रकाश हुआ वह प्रकाश प्रकाश को प्रसिद्ध करते हुए मकान को प्रसिद्ध करता है। प्रकाश प्रकाश को प्रसिद्ध न करे, प्रकाशे नहीं और मकान को प्रकाशे ऐसा कभी भी नहीं बनता। तो यह प्रकाश नहीं अंधकार हो जाता है।

उसीप्रकार उपयोग में उपयोग है। उपयोग में उपयोग, ज्ञान में ज्ञान ज्ञात होता है। ज्ञान ज्ञान को जानकर क्रोध को जानता है। ज्ञान ज्ञान को जानना छोड़ दे तो क्रोध को जान ही न सके। तो जड़ हो जाये। वहाँ ले ना स्व-परप्रकाशक। ले ना वहाँ स्व-परप्रकाशक चाहिए ना तुझे? ले न अंदर में। आहाहा! ऊर्ध्वरूप से आत्मा ज्ञात होता है। श्रीमद्जी ने कहा है, ऊर्ध्वपने आत्मा ज्ञात होता है। आहाहा! श्रीमद्जी के चरणों में झुकते हैं सभी, (किन्तु) उनका लिखा हुआ नहीं मानते। **घट-पट आदि जान तू, तातें उनको मान; जाननहार को जान नहीं, यह कैसा तेरा ज्ञान?** (आत्मसिद्धि शास्त्र, गाथा ५५) आहाहा! उन्हें यह कहना है। कि घड़ा जानने में नहीं आता, तेरा ज्ञान जानने में आता है। तो जाननेवाले को तो जानता नहीं है। और यह घड़ा है, यह है, यह है, यह है। इसप्रकार अनंतकाल से पर्याय की बहिर्मुखता रह गयी है, उसमें अनुभव नहीं होता।